समाधिता



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ६ पटना ६

समाधिता

श्री सुमित्रानंदन पंत



सुमिता

सुमिते,

तुम शैशव समाधि मे रहती निश्छल
न्योछावर तुम पर दादू के समाधिस्थ पल ।

विज्ञापन

दो

व्यर्थ ज्ञान की खोज
प्रेम खग नीड हृदय जो भीतर,
तो तुम ईश्वर ही मे रहते
तुममे रहता ईश्वर !

जो सुकम रत रहते नित
वे करते प्रभु का पूजन,
प्रभु ही का मदिर रचते
निर्मित कर जन भू प्रागण !

रक्त शिराओ मे बहता
सगीत निरतर गोपन
अभिव्यक्ति ईश्वर को देता
वह उर म नित नूतन !

बाधो जग जीवन से
प्राणो का रस छद महत्तर,
अहकार को दे सामूहिक अथ,
मुक्ति लोकोत्तर !

भेद नही जग मे ईश्वर म
प्रज्ञा हो जो विकसित—
भू पथ पर ईश्वर ही प्रतिक्षण
विचरण करता निश्चित !

चार

निजन मे प्राथना कर रहे
बैठ वक्ष के नीचे ?
सास खीच कर
ध्यान मग्न मन
अपलक
आखे मीचे ।

सत्कर्मों से करो प्रायना
पावन हो जन भूतल,
देह रोम प्राथना करे
जग मे हो जीवन मगल !

तन्मय अतर ही प्रभु दपण,
भूतल मदिर प्रागण,
जीवन से ईश्वर वियुक्त ?—
यह मध्य युगा का दशन !

छः

पत्ते झर

उड़ते भू रज पर

लोट पाट कर,

मैं परी की सी आहट

सुनता आँगन पर।—

कुछ ऐसा तन्मय रहता मन।

काल प्रगति करता अविराम

दिशा पथ पर चल,

क्षितिज झरोखा से

त्वच कोमल

झांक रही नव कोपल—

बोध के नयन।

समाधिता

सात

नव खिलती कलियो से
जो सौन्दय झाकता—
वही तत्वत शाश्वत ।

क्षण भगुर माध्यम मुरझा
पीले पत्तो मे परिणत ।

भगुर ही मे रचपच कर
शाश्वत का रहना सभव,—
जो शाश्वत को पृथक् खोजते
रीता उनका अनुभव ।

जन को मध्ययुगीन दृष्टि से
उठना निश्चय ऊपर,—
सत्य दृष्टि
जीवन मगलमयि,
इह-पर युगपत् निभर ।

आठ

मैं ईश्वर को आज मनुज के
        और पास ले आया,
विगत अनागत के पाटों में
        पिसता जो भरमाया !

कल जब वह जन के भीतर से
        हँस हँस कर बोलेगा
स्वर्ग नरक का क्रूर भार
        तब मनुज नही ढोएगा !

ईश्वरीय पावक मैं
        मानव कर मे धरने आया,
धरती ही ईश्वर का आगन
        शेष बुद्धि की माया !

भू की चौडी छाती पर
        मैं लोट पोट करता हूँ
ईश्वर से चिर अविच्छिन्न मै
        नया चरण धरता हूँ !

नौ

परदा सा उठ जाता
आखो के सम्मुख से नि स्वर,
इसी धरा पर नयी धरा
तब दिखने लगती सुदर!

भू-जीवन से विलग, खोज मे
खो थोथे चिन्तन के
युग युग से हम भटक रहे
माया खँडहर मे मन के!

आओ, हम सीधे सयुक्त
करें मन को जीवन से,
धरा कर्म मे निरत,
न विलगावें शाश्वत को क्षण से!

मन अपने मे दुख का वन,
भू-रचना सुख का साधन,
जग के विस्तृत दर्पण मे
बिम्बित आत्मा का यौवन!

कहा खो गया भार काल का
कमठ तन्मय क्षण मे,
बिना हमारे जाने ही हम
विजयी जीवन रण मे!

दस

ईश्वरत्व का गौरव
लौटाता हूँ तुमको—
साधारण मानव बनना
लगता श्रेयस्कर !
साधारण मानव !—क्या गुरु
दायित्व न यह कधो पर ?

छोटे से आगन पर चलता
जब लघु पग धर
आत्म पूर्णता का अनुभव
तब करता अन्तर !
सिमट विश्व जाता सब
धूप धुले आगन मे,
मन मे परिचित जगत
समा जाता तब क्षण मे !

भू जीवन मे मनुष्यत्व का
हो सपोषण,
लुप्त न हो जा आगन भी
वर अतर्मुख मन !
सीमा मे नि सीम,
महत् लघु ही मे मूर्तित

समझ न पाया था विधि कला
सृष्टि मे सर्जित ।

लगता था तब
दो अनत हैं बाहर भीतर,
तुमसे हो सयुक्त
रहा आद्यत न दुष्कर ।

तुम हो केवल,—
सीमा और असीम बुद्धि भ्रम,
क्षण क्षण जिनको करता मन
अब तुम मे अतिक्रम ।

ग्यारह

फूट रही तन्मय उर तंत्री से
यौवन झंकार,
रोम रोम के तार
प्रेममयि, तुमको रहे पुकार।

बरस रही प्रति श्वास स्पर्श से
श्री सुषमा सुकुमार
जिससे मैं निज सृजन जगत का
करता रस शृंगार।

जग का आँगन ही
प्रिय-गृह अब—
खुले हृदय के द्वार,

नव नव रचना कर्मों का
पहनाता प्रिय को हार।

बारह

सूक्ष्म स्वर्ग की गंध
समाई जो उर भीतर
सूंघ न पाते यदि उसको नर—

अन्तर की घ्राणेंद्रिय उनकी
अभी न विकसित,
पंकज नहीं, पंक ही से
जीवन मन परिचित !

एक स्वर्ग झंकार
हृदय-वीणा में सोई,
श्रवण नहीं यदि कर पाते जन,

बाहर के कोलाहल में
उनकी मति खोई
उर न अनाहत के प्रति चेतन !

एक अमर सौन्दर्य व्याप्त
अंग जग में विस्तृत
देख नहीं पाते यदि लोचन

मन की आँखें अभी नहीं
खुल पाईं निद्रित,
बाह्य रूप का उन पर गुंठन !

शाश्वत अक्षय सत्य
सृष्टि पट मे जो गुम्फित
स्पश नही कर पाता यदि मन

इद्रिय द्वारो से
वह बिखर गया
शत खडित—
ध्यानावस्थित नही हो सका
कभी एक क्षण!

चिर अखड रस धारा म
आनन्द प्रवाहित,
प्राण नही यदि कर पाते अवगाहन,

तो असाध्य इच्छा के
पाटो से वे मर्दित,
हो न सके केद्रित समग्र म
बन प्रभु दपण!

तेरह

देव जन्म लेता जब भू पर
उसे घेर लेते मिलकर
विद्वेषी दानव,—

आत्मसात् कर असुरों को
नव अभिव्यक्ति पाता
नव युग का मानव !

सदसत् का संघर्ष
उसे गति-क्षमता देता
दोनों को कर
युग पट में संयोजित,—

सदसत् से पर
विश्व मंच पर
नव होता अवतरित
रूप धर विकसित !

प्रति विकास के साथ
विगत का ह्रास उपेक्षित
बनता नव जीवन पथ का
अवरोधक,

पन्द्रह

आत्म नग्न अब जीवन !—
खोल दिए सब बन्धन
विश्व सभ्यता संस्कृति ने था
जिन्हें कराया धारण !
—मात्र रहे वे बाह्य उपकरण !

खोल दिए ज्योतिमणि भूषण
पहनाए जो रहे
शास्त्र, षडदर्शन !
—बोध नहीं शुक वाचन, प्रवचन !

अन्तर की अनुभूति सत्य—
यदि कहूँ
उपेक्षा से फेरेंगे
मुख शुष्क पंडित,—

पूर्ण दृष्टि मिलती उससे ही,
जिससे जग में
कुछ भी रहता नहीं
तुच्छ, क्षर, खंडित !

लघु तथ्यों से भले लगे
भव पंजर निर्मित,
महत् प्रीति करुणा से वह
शाश्वत आलिंगित !

सोलह

तुम्हे सौंपता हूँ देवत्व
तुम्हारा गुरुवर,
मनुष्यत्व ही का कामी
मेरा नर जीवन !

मानव प्रतिमा मे तुम
जीवन-मूत हो सको,
श्रद्धारत मन करता
जन-जन मे अभिवादन !

शून्य स्थाणु क्षमता,
निर्गुण चेतना अगोचर
मनुज रूप धर कर ही
होती पूर्ण पल्लवित,

इन्द्रिय द्वारो ही से
सहज ग्रहण करता मैं
सूक्ष्म भाव सौन्दर्य तुम्हारा
रहस अपरिमित !

आत्मबोध के छत्ते मे
सचय करता मन

सत्रह

जिस पावक से सृजन
    प्रेम का करता ईश्वर
उसे पी गया हूँ मैं छककर !

नये सूर्य बनने के क्रम में
    चिनगारियाँ निरन्तर !

ओ आनन्द,
    सृजन के सुख दुख का
    प्रेमी मेरा मन,—
तुम्हें सौंपता रहता
    सजन के सुख दुख के
    रस क्षण !

लोट धूलि में भू जीवन की
    अनुभव होता पावन,
मैं जडता को आत्मसात कर
    बनता समधिक चेतन !

बदल गई आत्मा की भाषा,
    अग जग का मूल्यांकन,
रही न वह जीवन परिभाषा,
    भू अब श्रद्धा प्रांगण !

अठारह

जीवन पावक आज तुम्हारे
करतल पर मैं धरता,—
सावधान, जलना मत, तुमको
विश्व यज्ञ हित वरता ।

अब वह युग आ गया
मनुज ईश्वर हो सीधे सम्मुख,—
नम्र हृदय, ऊँचा सिर रखना,
भरमा दे न महत् सुख ।

सच्चिद् विद्युद् धारा में
मैं बहा रहा जन मन को,
सावधान, संयम में रहना,
खोना मत प्रिय क्षण को ।

इह पर संग आदर्श यथार्थ
मिलें भावी युग पथ पर,
सावधान, बनकर समग्र
उठना तुम, पुरुषोत्तम नर ।

उन्नीस

डरो न तुम, निर्भय मन विचरो
जगती के आँगन में,
नही जानते ? ईश्वर के
प्रतिनिधि हो तुम जीवन मे !

दौड़ाओ उद्बुद्ध दृष्टि
उन्मुक्त दिशा के पथ पर,
लक्ष्य न भूलो, बैठे हो तुम
क्षिप्र काल के रथ पर !

सूर्य खंड यह धरा, भले जड़,
इसे सँवारो प्रतिक्षण,
मानवीय बन सके, प्राण से सींचो,
रज हो चेतन !

गुरु दायित्व मनुज कंधों पर,
उसे निबाहो हँस कर,—
स्त्री नर ही क्या, पशु पक्षी
तृण तरु कृतार्थ हों भू पर !

अणु युग यह ! मुट्ठी भर रज से
चिद् गति जब ले नूतन
रचना करो नए जग की मिल
सार्थक हो भू-यौवन !

समाप्ति

बीस

काल न मुझको माल घड़ी पल,
काल परे मन जाग्रत्,
अन्तर का जागरण सत्य ही
मेरे मन का भारत !

वह न विश्व का अंग,
अंग उसका ही विश्व असंशय,—
भारत—भू पर ! बोध प्राप्त कर
बने लोग मृत्युंजय !

दुख होता अह, मुझे
देखकर उसको नग्न दिगम्बर,
आत्मा के निर्माण में निरत
रहे काय मन खँडहर !

उसे बहिर्मुख करना स्थापित
अब आत्मा का जीवन,
कल उसका आंगन होगा
विश्वात्मा का मुख दर्पण !

आत्मरिक्त, वह बहिर्विभव रत
देशों में हो बिम्बित
सौम्य तेज भारत मन का,—
अणु-मृत जग हो नव जीवित !

इक्कीस

झूठे नवी असभव के प्रति
करते प्रेरित,
बुद्धिहीन मुट्ठी भर
मनुजो से हो पूजित ।

सम्भव की साधना
असम्भव से भी दुष्कर,
सत्य रुधिर से पोषित वह
होता क्षण क्षण पर ।

वह न सुनहले स्वप्नो मे
भटकाता जन को,
स्मित आकाश कुसुम वन मे
न भ्रमाता मन को ।

जीवन वास्तवता से खीच
प्रकाश प्रतिक्षण
निर्मित करना होता उसे
धरा का आँगन ।

आओ, जोड़ जग को,
पहचानें जीवन मुख ।
जन भू आँगन रचना ही मे
जीवन का सुख ।

बाईस

सहज सत्य सुन्दर
इन्द्रिय आवेगो का पथ,
प्राण अश्व से सचालित
विश्वात्मा का रथ ।

शिव जग-जीवन लक्ष्य,—
बोध वल्गा से प्रेरित
मातृ प्रकृति के क्रम विकास-
पथ पर रथ धावित ।

इन्द्रिय उपवन सूक्ष्म भाव-
सपद् मे कुसुमित,
अन्तर-नभ-सुरधनु-श्री-
सुषमा से आलिंगित ।

ऐसा नही कि सत्य परे
इन्द्रिय जीवन से—
उसे सँजोना रस-समग्र
आत्मा के मन से ।

छील छीलकर प्याज चेतना
आत्म रिक्त बन,

सम्भव हो निर्वाण—
न ईश्वर का आराधन।

जीवन ईश्वर को जो
वरना चाहो भू पर
तो समत्व साधो,
न उठो इन्द्रिय मन ऊपर।

तेईस

मेरे सम्मुख आता हँसता
जन समूह का ईश्वर,
व्यक्ति चेतना दीप शिखा यदि
सामूहिक चिद् भास्कर !

सामूहिक संकल्प ? बनाता
वह जग मे अपना पथ,
वृहद् यान चाहिए हमें
कितना क्या ढो सकता रथ ?

मन संगठन पीछे रहता
बहि संगठन आगे,
भले शील सुंदर पंडित हो,
पर कायर, यदि भागे !

बहि संगठन केवल रे
ऊँचे स्तर पर ही सम्भव,
तभी लोक श्रेयस्कर,—
नीचे स्तर पर जीवन परिभव !

चौबीस

तुम्हे सौंप कर मुझको
विधिना ने बतलाया
कितने कोमल सूक्ष्म
ततुओ से असु-गुम्फित
मानव जीवन ! —

शिशु जिसका
अकुर गुठित चित !

तुम्हे सौप
निज सृजन कला का भी
रहस्य समझाया !

तुम प्रभु की बहुमूल्य धरोहर
ईश्वर मुख की दपण,
अनजाने ही तुम्हे पालता
उर का मुग्ध समपण !

तुम कितनी असहाय, अबल
कितना कठोर जग—
अविकच कली—
कुटिल काटो का
कुठित भ्रू-भग !

रहस मौन स्वर्गिक सम्मोहन
गूढ़, अपरिचित—
(रक्षक सबल तुम्हारा !)—
उर करता आकर्षित !

सतत धातृ जननी की
मृदु बाँहों में दोलित
हँसती स्वर्ग कुसुम तुम
मातृ प्रकृति सपोषित !

सृजन कला की विस्मय हो तुम,
मुझे न संशय
निज अबोधता से संरक्षित
तुम्हें नहीं भय !

प्रीति अंक में पलते निश्चय
निखिल चराचर—
प्रेम सृष्टि का ईश्वर,
जग जीवन का सहचर ![१]

---

१ सुमित्रा के प्रति

पच्चीस

ओस बूद, तुम कितने हो श्री निमल,
सहज सँजोए हो फूलो के करतल !
वेद ऋचा तुम मुझको जीवन पावन
उज्वल, स्वच्छ रहे तुम सा मेरा मन !

विहगो, तुम होते न सृष्टि के गायक
आग लगा देता मैं जग मे तत्क्षण,
कवि पखी तुम, स्वर सगीत विधायक,
कूजित तुमसे नील गगन, भू दिशिक्षण !

मुझे फूल भी भाते—रग मुखर स्वर,
गोपन कुछ कहते वे मन मे नि स्वर,
तुम दोनो हो जग मे कितने सुदर
एकाकी मनके प्रिय साथी सहचर !

छब्बीस

सूक्ष्म लेखनी की असि से
मैं काट रहा हूँ
अंधकार युग-युग के मन का।

स्थापित करने विश्व तन्त्र
नूतन जीवन का।

शुद्ध बोध की धार
घाव करती उर-दुस्तर,
उज्ज्वल कोमल स्पर्शों से छू अन्तर।

बहता संवेदना रुधिर का
भीतर निर्झर,
भेद भाव का कटु किल्विष
जो धोता सत्वर।

कल्मष को कल्मष कह
उसे घृणा करने से
मिटता अब नहीं निगूढ लाछन का,

उठा मनुज को,
व्यापक भाव भूमि देकर ही
मूल्य सिखा सकते हम मानवपन का।

सत्ताईस

युद्ध करो, हां युद्ध,
सतत विगत ज्वर होकर,
निर्मम भू परिवेश,
युद्ध चाहिए निरन्तर !

अन्यायी नर असुर,
नम्र, न्यायी सच्चा नर,
लड़ो सत्य के हित
जिस पर जन मंगल निर्भर !

मर्यादा नवनीत
चेतना की निःसंशय,
मर्यादा से हीन
कभी हो सकता सहृदय ?

मर्यादा की अग्नि
में देना तुम्हें अकुंठित,
काटो मन का अंधकार,
जीवन हो ज्योतित !

अट्ठाईस

ऊर्ध्वमुखी मनु ही सन्मानव,
मुझे न सशय,
अधोमुखी इन्द्रिय-रत पशुवत्,—
नर तन केवल परिचय !

ऋषि मुनियो, द्रष्टा देवो का
सार भाग गति कामी मानव,
अभिव्यक्ति उसमे ही
ईश्वर की हो सकती सम्भव !

लगता पहिले
अधोमुखी इन्द्रिय ही
सर्वोपरि सुख साधन,—

परम सौम्य सुख का अनुभव
तब होता, जब मन
ऊर्ध्वभूमि पर करता विचरण !

किन्तु ऊर्ध्व ही मे खो जाना
रिक्त शून्य मे
निष्क्रिय लय होना भर,

समाधिता

ऊर्ध्व प्राण वसी से पकडो
जग जीवन को
वह मृत भीन नही,
उसमे उठने की क्षमता ऊपर !

ईश्वर का पर्याय सतुलन,—
भगवद्वशी मानव, भोगो
शाश्वत जन भू यौवन !

उनतीस

फूट पड़ा जो पावनता का
स्रोत हृदय के भीतर
अब अजस्र वह निर्झर !

भू जन चाहे,
उसमें कर सकते अवगाहन !

जीवन-ईश्वर ध्येय मनुज का,—
यदि न ब्रह्म करता
विकास जीवन का
तो वह ब्रह्म नहीं,
भ्रम भर,—कहता मन !

व्यर्थ बिना जीवन के ईश्वर,
व्यर्थ बिना ईश्वर के जीवन,—
कभी बन सकेगा जीवन ही
ईश्वर का भू-प्रतिनिधि पावन !

भटक बुद्धि के सकुल वन मे
खो आत्मा के निभृत गगन मे
थामे अब मन
हरी डाल जीवन की,—

यही बनाना मन को नीड
नये ईश्वर का,
नव जीवन तृण
चुन-चुन प्रतिक्षण ।

तीस

ज्यो-ज्यो आता पास तुम्हारे
नयी भूमि पर चलता,
विस्तृत लगती दिशा,
क्षितिज पर सूरज नया मचलता !

प्राणो के खग कलरव करते
होता ज्ञान सवेरा,
मिटता आस्था के अभाव का
मन का छद्म अँधेरा !

उतरो स्वर्णिम रस निर्झर सी
प्लावित करने जग को,
नूतन चेतन पद चिह्नो से
सूचित करने मग को !

छाया भय सशय विषाद
जग मे विघटन का पतझर,
आओ, लोटो भू रज पर
बन नव जीवन कुसुमाकर !

इकतीस

गायक बनने को बधु, चाहिए
राग ताल स्वर लय साधन,
कवि बनने को भावार्द्र हृदय मे
सुदरता का रस दर्शन!

मानव बनने को सेवा-रत
अतर मे सहृदय सवेदन,
नित आत्म त्याग ही के बल पर
हो सकता जन मन पर शासन!

सुगृही बनने को अपरिहार्य
सत्कर्म निरत जीवन चिन्तन,
इस सियाराममय जग ही मे
साधक को पाने प्रभु दर्शन!

यह सच है, पर सबसे दुष्कर
जग मे बनना साधारण जन,
उद्यत जाग्रत्, कर्मठ, विनम्र
भू शिल्पी—करता उसे नमन!

बत्तीस

जब मैं धरती पर पग धरता
सहज चूम लेती वह पदतल,
मुझे गुदगुदाती,
स्नेहाकुल मन हो उठता चंचल !

पकड़े मुझको
भू का गुरु आकर्षण,
उसे चाहिए
युग प्रबुद्ध मानव मन,—
नया सँजोना उसे
हरित निज आँगन !

श्यामल दूर्वा
मुक्त पृष्ठ सा खुला
नये जीवन का,
लोटें इस पर,
भार उतारें मन का !

नव सूर्योदय हुआ
प्रसन्न दिशाएँ,
अंधकार की मिटी
निरुद्ध निशाएँ !

नव जीवन के स्वप्नों से
मन पुलकित,
अनिल सलिल के सग
अग हिल्लोलित !

नयी दिशाओं को छूने
मैं स्वत स्फूर्त सा चलता,
मातृ क्रोड म
नव जीवन शिशु
जग पर मुग्ध मचलता !

तैंतीस

अधकार से मत जूझो
भू मन के दुजय,
वह अवोध पहिला प्रतिनिधि
अतर प्रकाश का !—

अहकार ही आत्मा का प्रारूप प्रथम रे,
मानव जीवन
कटक पथ जिसके विकास का !

सूक्ष्म मनोमय दशन,—
सत् के वोध के लिए
असत् उपस्थित रहे,
कला यह सष्टि सृजन की,—

ऐक्य वोध के लिए
विविधता ही पथ दशक,
यह अनुभूति रही निगूढ
युग के चारण की ।

दशन वन जाती जव कविता
तव वह कविता रह जाती क्या ?
शकित कुछ जन !

काव्य क्षितिज पर
ज्योति पव सी भाव दीप्त वह
आलोकित करती
रस प्रेमी प्राणों का मन !

समाधितः

चौतीस

खोल दिये मैंने झिलमिल
इंद्रिय वातायन,
खुली वायु मे
सास आज लेता मन !

युग युग के वजन निषेध से
मुंदे हुए थे कम वचन मन—
इच्छाओ का जीवन !

द्वार मुक्त कर अपनेपन के
पाता अव मैं
पूजन के नव साधन !

मेरे बिना भला क्या सम्भव
ईश्वर का अस्तित्व
करे उर अनुभव ?

मैं ईश्वर पर
ईश्वर मुझ पर
न्याछावर होते रहते अब
अनुभव बन नव !

ा काई ईश्वर के,
ईश्वर से
ि‍नट न कोई मरे,—
इसम संशय ?

प्रतिक्षण हम आमने सामन
बठ रहते—
तन मन रहते तन्मय ।

पैंतीस

मैं नव किरणे
भू जीवन मे बो जाऊँगा,
नये सूय शशि उगें क्षितिज मे,
ज्योति पख गाने गाऊँगा !

व्याकुल वन कोयल के स्वर म
व्यथा गूथ जन जन अन्तर मे,
मैं भावी स्वप्नो से सुरभित
नव वसत जग मे लाऊँगा !

नव जीवन काक्षी
रस विह्वल
गर्भित मेरे जीवन के पल,
मैं अपने को देकर जग को
जग मे
अपने को पाऊँगा !

ज्वार उठा जीवन सागर मे
नया शब्द बन कर अम्बर मे—
पख खोल
प्रिय देश काल मे
निखिल विश्व भर म छाऊँगा !
ज्योति स्नात
गायन गाऊँगा !

छत्तीस

मुझे चाहिए फूल परी सी
सुन्दर नारी,
अपनी ही उर सौरभ मे
लिपटी सुकुमारी।

देह गध ही मे वह
बसी नही हो मासल,
उसे कभी छू लू तो
प्राण न हो रति विह्वल।

मन के मुख पर
मधुर शील का हो स्मित गुठन,
रमा चेतना की
श्री शोभा मे हो जीवन।

गृह मे तन, सामाजिकता मे
हा उसका मन,
अधिक प्रीति से करुणा हो—
जग के प्रति चेतन।

पद तल स्पर्शो से उसके
भूतल हा पुलकित—
मन के स्पर्शो से
मरणामुख जग नव जीवित।

सैंतीस

पच तत्व मे जल समीर
मुझको है प्यारे,
कितने चचल, कितने कोमल,
सबसे न्यारे ।

कितने श्राति क्लातिहर
दोनो कितने सहृदय,
ये कोई हैं देव,
न इसमे मुझको सशय ।

भाव मुग्ध जब इन पर
करने लगता चितन,
लगता तब पागल
हो जाएगा मेरा मन ।

सोचो, किस वशी ध्वनि सा
रेशमी तरगित
अचल मलयानिल का—
किन सूत्रो से गुम्फित ।

लगता, मृदुल मृणाल तनु से
छिल जायेगा

गोरम का ना बना नेगम ग
गंध गन्ना ?

गभार डाली गुन्म
भाना हा माना की
प्रान भाना हा मा
मुनी उर क न्म मा !

0

गण मान गीताग
पता हा मगून गर्मारन
पिघला मर गुट म समीर मा
उन गन्नि गण !

तरल सलिल, यदि रही
डूबा मा होता भय
मैं उसमे ही रहता
कोमलता मे तन्मय !

उसका शीतल स्पर्श
ओढ कर लेटा रहता,
किसी नदी सरवर उर की
लहरो मे बहता !

किन गीले तारो से
किसने गूथा जल को
फूलो के कूलो मे क्या
बाधा चचल को !

अनिल सलिल को
आलिंगन जब करता उच्छल
हँसता मैं तात्विक शोभा मे
लय फेनोज्वल ।

रभस वेग ज्वारो का
गाता उर के भीतर
आधी पर चढ
करता पार दुरत दिगतर ।

अड़तीस

गगा की सी धारा वहती
लगती निखिल धरा पर,
जाने किसका प्रीति स्पश
रस पुलकित करता अन्तर !

बिछे काल के क्षण वालू कण
जीवन तट पर विस्तृत,
आओ, खेल बना घरौंदे,
क्रीडा स्थल जग निश्चित !

गति, अविरल गति ही जग जीवन,
उसे रोकना दुष्कर,
मन की नाव भले ही डोले
ध्येय सरित का सागर !

आशा की सित पाल चढाओ,
उच्छल प्राण समीरण,
नव नव इच्छा की हिल्लोलें
देती मिल आलिगन !

जीवन क्या केवल सघषण ?—
अध सत्य युग दशन,
पूण सत्य—आनद स्वय ही
डाड चलाता प्रतिक्षण !

उनतालीस

पास तुम्हारे होता हूँ जब
मन से ओझल हो जाता जग,
लौट जगत् पर आता जब मैं
नयी धरा पर धरता मन पग!

कितना सत्य जगत् लगता तब
तुम प्रकाश हो जिसके निश्चय,
बिना सृष्टि के तुम्हे समझना
आध्यात्मिक अज्ञान असशय!

स्पश तुम्हारा अपरिहाय, प्रिय,—
खोले मम जगत् का जीवन,—
जगत सत्य है, जगत सत्य,
श्री शाभा मुख का शाश्वत दपण!

पकज वह, उसको होना अब
ज्योतिस्पश पा तुमसे विकसित,
नित्य सत्य जीवन-यथाथ ही
जिसके उर मे ईश्वर बिम्बित!

चालीस

श्री सुषमा के सदृश सूक्ष्म,
प्रिय फूल, सहज हरते तुम मन
सौंदर्य प्रतीक, अधर सस्मित
किस विस्मय से अपलक लोचन ?

मैं भूल स्वयं को जाता हूँ
जब तुम्हें देखता अंत स्मित,
शोभा बखेरते तुम जग में,
मग में, गृह आगन, वन में नित !

सुंदरता ही है सत्य परम,
सुंदरता ही शिव भी निश्चय,
शिव सत्य नहीं यदि सुंदर हो
तो मुझे न भाएँ निःसंशय !

आओ, भर दें जग के दिगंत
नव युग शोभा में हो कुसुमित
मैं कवि हूँ, तुम स्वर्गिक कविता,
नव रूप दिगंत कर सर्जित !

पीडित अभाव से जन जीवन
औ' कामक्षुधा से भू यौवन,
कुंठित उर में बरसा प्रहर्ष
हम भर भाव मधुमय गुंजन !

समाधिता

इकतालीस

राग द्वेप से दग्ध आज
युग मानव का मन
निखिल विश्व मे
घोर विपमताओ का जीवन।

जनगण से भी जग के बौद्धिक
मन के निधन,
स्पर्धाऽहता के पाटो मे
मर्दित प्रतिक्षण।

जलते रहते मेरे
विद्वेपी आलोचक
छोटे मुह जो बडी वात
कहते नित अनथक।

भारत मे रहना जिसको
जीते पहिले मन—
नव निर्मित करना उसको
जगती का प्रागण।

धिक, सब मे दयनीय देश
अस्त्रो से सज्जित,

बाहर से ही पशु प्रयत्न
उनके युग साधन,
नयी सभ्यता का होना
भीतर से चेतन!

बाहर से ही हाँक रहे वे
भू जीवन को,
युग यथार्थ यह—
आज बदलना अंतर्मन को!

बाहर से भी सहज सँजोए
भू निज आँगन,—
जीवन आस्था में आने को
नव परिवर्तन!

ऊपर से भी अब दबाव
अनुभव करता मर्त्य,
भोगेंगे जन नयी
चेतना का नव यौवन!

बयालीस

बिछ जाता मन हँस दूबड मा
तुम धरो धरा पर नये चरण,
लौटे वसत नव जन-भू पर
जागे दिगत-तम ज्योति नयन!

पग पग पर सुलगे नयी क्राति,
फले नव जीवन की ज्वाला,
जन वरण करे तुमको, पहना
नव आशाऽकाक्षा की माला!

चेतना सुरा नव पी प्रमत्त
जन आत्म त्याग को हो तत्पर,
भू पाप ताप अभिशाप मिटे
सुख सौध बने दुख का खँडहर!

तुम हो अविजेय तमस देवी
जीवन की आकाक्षा—वाली,
पग पग पर चलते भूमिकप,
उडगण टकरा देते ताली!

ढो पाती बोझ विषमता का
यदि अब न अभावा की पीढी,

ता अट्टहास फिर करो भीम
युग विघटन वन प्रगति सीढी !

देखें विनाश के ताडव म
जन नव जीवन को धरते पग,
नव भावो म हास मुकुलित
मन के दिगत, भावी का मग !

शोषण के मुडो से मडित ,
मा, सदय तुम्हारा वक्ष स्थल,
फिर पौरुष सिह बने वाहन,
विचरे जग मे जीवन मगल !

तैतालीस

बोध मान मैं ही हूँ युग का—
जाने निश्चित,
झूठे द्रष्टा आत्म प्रचारक
भू पर स्थापित!

स्वप्नों के आकाश कुसुम
मन करते मोहित,
भ यथार्थ से हटा दृष्टि
शिखरों प्रति प्रेरित!

सत्य मान मैं,—धरा पथ
छोड़ें न कभी जन,
हास अश्रु के जग म उतरा
युग नव चेतन!

श्रम स्वेद मे सनी धरा रज
होगी उर्वर,
मैं आनन्द बखेरूँगा
उस पर पग पग पर!

निकट सत्य के आएगा
जब जन-भू जीवन

नयी भावना से दीपित
होगा मानव मन !

नयी शक्तियाँ मुक्त करेंगी
सहज अवतरण
मानवता में गरिमा होगा
प्रति सृजन निरत क्षण !

निखिल सृष्टि के सत्य,
सत्य से सर्जित पोषित
विचरे जन भू जीवन का
करना समायोजित !

आत्मा ही की लय में
होगा वह संयोजन,
मन में भीतर, जग में बाहर
पूर्ण समर्पण !

एक विश्व में एक मनुजता
होगी निश्चय,
सकल विविधताओं का
सतत करेगी संचय !

सत्य खोजना होगा नहीं
कहीं तव ऊपर,
भू पर होगा स्वर्ग,
यहीं विचरेगा ईश्वर !

चौवालीस

मैं न रहूँ वन मे निजन
वन एकाकी सन्यासी
मनोगुहा मे खोया दुगम
रिक्त मुक्ति अभिलाषी !

जन सकुल ससार मे रहूँ
तुम पर अन्तर्निभर,
भू जीवन को नया मोड दू
तिरूँ न ऊपर ऊपर !

इद्रिय वृषभो से मैं जोतू
जीवन क्षेत्र प्रतिक्षण,
बोऊँ किरण श्री शोभा
आनद प्रीति की नूतन !

खर कटक दुख दैन्य निरा,
दे नयी चेतना का जल
सीचू जीवन की समग्रता
उगे शस्य श्री मासल !

अपरिमेय आत्मा की क्षमता—
उसे लुटाऊँ भू पर,
बना धरा-मुख मानवीय
सुदर से नित सुदरतर !

नयी चेतना से दीपित
होगा मानव मन ।

नयी शक्तियां मुक्त करेंगी
सहज अवतरण
शाश्वत से गर्भित होगा
प्रति सृजन निरत क्षण ।

निखिल सृष्टि र सत्य,
सत्य से सर्जित पोषित
बिखरे जन भ जीवन को
करना सयाजित ।

आत्मा ही की लय मे
होगा वह सयोजन,
मन मे भीतर, जग मे बाहर
पूण समपण ।

एक विश्व म एक मनुजता
होगी निश्चय,
सकल विविधताओ का
सतत करेगी सचय ।

सत्य खोजना होगा नही
कही तव ऊपर,
भू पर होगा स्वग,
यही विचरेगा ईश्वर ।

चौवालीस

मैं न रहूँ वन मे निजन
वन एकाकी सन्यासी
मनोगुहा मे खोया दुगम
रिक्त मुक्ति अभिलाषी।

जन सकुल ससार मे रहूँ
तुम पर अन्तर्निर्भर,
भू जीवन को नया मोड दू
तिरूँ न ऊपर ऊपर।

इन्द्रिय वृषभा से मैं जोतू
जीवन क्षेत्र प्रतिक्षण,
वोऊँ किरणें श्री शोभा
आनन्द प्रीति की नूतन।

खर कटक दुख दैन्य निरा,
दे नयी चेतना का जल
सींचू जीवन की समग्रता
उग शस्य श्री मासल।

अपरिमेय आत्मा की क्षमता—
उसे लुटाऊँ भू पर,
बना धरा-मुख मानवीय
[illegible] सुदरतर।

पैतालीस

स्त्री थी सुदरता की प्रतीक
उसका अजेय उर आकर्षण,
स्त्री के प्रिय अगो से लिपटा
रहता विस्मृत सा जन यौवन ।

स्त्री भले रूप की हो प्रतिनिधि,
पर मन से सुदर ही सुदर,
गूलर फल सा सौदय वाह्य
स्थायी न हृदय मे करता घर ।

युग वृत्ति काम के प्रति अर्पित
जिससे जन भू जीवन कुठित,
उपयोग न श्री सुदरता का
कर पाते जनतम से कवलित ।

वैराग्य पराजय जन मन की,
अनुराग सृष्टि रस का वाहक,
यदि अधोमुखी हो प्राण वत्ति
ह मानव गरिमा की दा

छियालीस

प्रिय सुरा पात्र सा जग जीवन
अधरामृत मे इसको ढालो
ज्वाला मे लिपटा इन्द्रिय तम
नव जीवन ज्योति बना पालो !

तुम कम चेतना श्री लक्ष्मी,
फिर कमठ राजस रूप धरो,
वाणी का सात्विक प्रज्ञा स्वर
इसमे उन्मद रस भाव भरो !

भावना कम मे हो मूर्तित,
दशन आस्था मे हो परिणत,
सीमा असीम से हो मडित,
क्षण के पग धर विचरे शाश्वत !

ओ कारयतृ विधि की प्रतिभे,
भू जीवन का स्तर हो विकसित,
तुम भावयतृ वाणी के सँग
नूतन भू पीठ करो निर्मित !

युग धर्म शब्द से प्रेरित जन
नव जीवन छद करे गुम्फित,
श्रम स्वेद अश्रुमय जीवन मे
तुम रस चेतस घन हो छदित !

सैंतालीस

दयावश छूती तुम भू पर
कमलवन खिल उठती पदचाप,
स्वर्ग के बनते प्रिय वरदान
धरा के पाप ताप अभिशाप !

कौन कहता जीवन दुख मूल?—
मुक्ति केवल छूछा निर्वाण !
हृदय मे हो जो आस्था सत्य
सुलभ हो पग पग पर परित्राण !

बरसता रस प्रहृष का मेघ
अमित श्री शोभा मे अम्लान,
बीन बन रोम रोम के तार
हृदय मे भरते स्वर्गिक तान !

जगत रे अमर प्रेम का नीड
जहा जीवन ईश्वर का वास,
पाप भू पथ के सहज पवित्र,
मनुज जीवन मे निहित विकास !

खिलो फूलो-से अत स्फीत
खगो से गाओ जागृति गीत,
धरा जीवन मे हो उत्क्रांति
दैन्य दुख अधकार पर जीत !

अठतालीस

मैं मानव चैतय,—
सत्य कहता दृढ स्वर मे
अमृत और अणुवम
मैं आज लिए हूँ कर मे।

पथरा गया मनुज के मन का
वृहद भाग अव,
विश्व परिस्थिति उगल सी रही
गरल आग अव!

ज्ञात नही, कितना सहार
मुझे हो करना
जन जन उर का दारुण घाव
मुझे अव भरना।

वाह्य परिस्थितियो ही से
अभ्यस्त मनुज मन,
स्पश न मिल पाता उसका
मेरा रस चेतन।

यो लगता, प्रतिदिन के
भीपण सघर्षों से

मानव उर में उगते
नित नव निष्कर्षों से—

लोग ऊब जाएँगे
क्षुद्र हृदयता से निज
नव प्रकाश बन जाग उठेगा
अधा मनसिज।

मुझे विनाश न करना पड़े
अधिक जन धन का,
रूपांतर हो सके शनैः
कुंठित भू मन का।

नव विकास पथ का कामी
सप्रति भू मानव,
उसे वहन करना
नव मानवता का गौरव।

युग प्रभात के पूर्व तमस से
अब जग छादित,
नव प्रकाश में शीघ्र
दिशाएँ होंगी जाग्रत।

पावक लिपि में मुझको करना
भू पर अंकित
नव जीवन का सत्य—
जगत् पथ हो नव दीपित।

मैं अभिनव चैतन्य—
स्पर्श करना जन मन को,
बाहर से भी भीतर
मर्माधिक गड़ना जन को।

उनचास

अशुभ न रोको—कहते ईसा
जो जग जीवन सहचर,
अशुभ शोधन से हम देंगे
जग अशुभ का दुस्तर!

अशुभ नहीं यह सृष्टि,
बुरा होता न कभी कोई नर,
ये जग जीवन स्थितियाँ
घेरे नर को बाहर भीतर!

सत ही सब जगत् सत मानव
अंश सत्य का अक्षय,
यही मनुज,—स्थितियों से पीड़ित
पिंड न उसका परिचय!

जाग्रत् करो मनुज का सत्—
पर कब? जान लो असंशय
प्रथम स्वयं तुम अपनी सत्ता,
सत में कर लो तन्मय!

इसी मनुज को ईसा देते
अशुभ न रोको—प्रवचन,

समाधिता

सत का अपृथक् सहचर बनना
भू विकास का साधन।

सदसत् का द्रष्टा बन कर नित
रहो जगत् प्रति जाग्रत्
आत्म दान दो सत् का जग को
कर अबोध का स्वागत।

पचास

कौन आ रही सावित्री सी
वह पग धर नव चेतन
विश्व सभ्यता को अणु मृत
देने नव जीवन-यौवन !

नयी चेतना का यौवन वह
श्री शोभा का जीवन,
नयी मनुजता अत केंद्रित
भू पर करती विचरण !

इद्रिय द्वारो से जिसके
अवतरण कर रहा ईश्वर,
सामाजिकता मे दिङमूर्तित
सूक्ष्म सत्य शिव सुदर !

आत्मा अब न जनो को दुलभ
वह भू पर भी वाहर,
सबके अतर मे भी निवसित—
यह आश्चय महत्तर !

हृदय खुल गया जन जन के प्रति
स्वग सुरभि सा उडकर,

हाव भाव सहृदय अतर के
छूते सब का अन्तर ।

अपने प्रति अज्ञान घोर
था मानव शत्रु भयंकर,
मुक्त पारदर्शी अब जन मन
बोध स्पर्श नव पाकर ।

इक्यावन

काम भले हो सृजन शक्ति
भागे उसको नव यौवन,
किन्तु प्रीति का शुभ्र स्पर्श
मन को करता नव चेतन !

अथ काम का संयम
जीवन मन को देता सौष्ठव,
बल देता वह धृति मति स्मृति को,
उच्च ध्येय का गौरव !

प्राण शक्ति संचय से तन मन
होता पुनरुज्जीवित,
रोम रोम के पुलिनों में
बहता आनन्द अपरिमित !

अतः सौरभ से हो उठती
प्राणवायु रस पुलकित,
भाव क्षितिज, नव बोध दिशाएँ
नव श्री शोभा कुसुमित !

काम सर्प के मणि फण पर धर
पौरुष के राजस पग
अंतर्जीवन दृष्टि प्राप्त कर
गढ़ें विशद जन भू मग !

बावन

ज्ञान ज्योति करती नीराजन,
भक्ति पदो पर मौन प्रणत
कर्म देख विस्तार अपरिमित
परिक्रमा करता अविरत।

तुम अभिनन्दित जग जीवन मे
भाव जनो के आराधन,
वास्तव मे जग ही प्रभु मदिर
प्रतिमाएँ मानस दर्पण।

सहज पार कर बोध क्षितिज को
अमित नील को छूता मन,
हृदय प्राण रस रोमाचित,
कर नव प्रकाश मे अवगाहन।

अतस की शोभा वसत के
नव कलि कुसुमो मे मुकुलित,
भीतर देखें बाहर—ईश्वर
वस्तु जगत मे भी बिम्बित।

योग ज्ञान अनिवार्य न दर्शन,
व्यर्थ निखिल जप तप साधन,—

तन मन इन्द्रिय के विश्राम म
ईश्वरत्व ही का वितरण !

सांस सांस म पीना चेतस
प्रभु ही का रस चरणाऽमृत,
दुर्लभ नही मनुज को कुछ भी—
आस्था प्रति जो उर अर्पित !

तिरपन

न जाने वहती कसी वायु
दह मे हो उठना रोमाच,
मधुरिमा मे से डूवे प्राण,
हृदय अज्ञात प्रीति का मच।

निखरते अगो से स्मित अग
उभरती शोभा स्वच्छ विदेह,
नयी चेतना अतिथि वन आज
उजागर करती नर का गेह।

भावनाओ का सित सौदय
कम जग मे भरता आह्लाद,
चित्त अतयौवन पर मुग्ध,
मिट गया जग का दैय विषाद।

लोट भू रज मे इद्रिय वृत्ति
मुक्ति मे करती निश्छल स्नान,
स्वग की पावनता मे मग्न
रोम गाते पुलक्ति हो गान।

ध्यान म लीन दीप्त अनुभूति
मुझे ले जाती जग के पार,
इद्रिया आत्म तृप्त हो जहा
खोलती नये वोध के द्वार।

चौवन

घादी मे मूता सी
मैंने वटी चेतना
जो अनत,—बुन सवे
लोक मगल पट सुमना !

नये बोध से गर्भित
खग सी नीड वसाए
नव भावो की छाया मे,
जन मन मे छाए !

मानव को छोटा घर
वडा क्षितिज मन भाए,
छोटे-से घर मे भी
मन मे विश्व समाए !

और, विश्व से भी वढकर
अतस के भीतर
वास करे नव दृष्टि विधायक
जीवन ईश्वर !

सरल सहज जीवन हो,
उच्च विचारा का मन,

नयी चेतना से दीपित हो
उर का यौवन ।

मुक्त चेतना हो
जग के ईश्वर को अर्पित,
दैन्य मिटे जग का,
मन हो आनद समाधित ।

भावैश्वर्य मुझे ऐसा
चाहिए जगत् मे
भौतिक सुख जिसके
अधीन हो मेरे मन मे ।

दृष्टिहीन विज्ञान—
भले भू बाहर दीपित,
अंधकार से मानव
तन मन आत्मा पीडित ।

पचपन

सीमा ही सीमा विहीन की
जग म साधक,
यदि असीम बनना चाह
सीमा मे रहिए,

प्राणो का आवग न हो
आत्मा का बाधक,
सागर मे मिलना चाह,
कूलो मे बहिए !

सीमा मे रह मै
असीम का अनुभव करता,
किरण डोर बन
अधकार जीवन का हरता !

आओ, पहचानें
जग जीवन के आनन को
लघु तिनको को गूथ
सँजोएँ भू प्रागण को !

एक फूल—सौदय
वनस्पति जग का बिम्बित,

भापा का ऐश्वर्य
व्यथ कर देता इगित ।

नाम रूप की जड
सीमाओ मे जग खडित,
दे असीम की नीव
करें नव सीमा निर्मित ।

छप्पन

लगता, ज्यों पहिली बार धरा पर
आज जन्म मैं धरता हूँ,
जीवन प्रभात में पहिले ही
मैं जग को देखा करता हूँ।

उग रहा यथार्थ नया भू पर
लगता अब सब कुछ ठोस घना,
मेरी आँखों के सम्मुख ही
दिखता जन जगत् नवीन बना।

लगती दिग् ज्योति अधिक उज्वल,
निशि अंधकार तन तडित स्नात,
मेरा मन तन्मय अंग जग से,
क्षितिजों पर हँसता नव प्रभात।

यह नहीं रिक्त कल्पना मात्र,
अनुभूति प्रबुद्ध हृदय मन की,
नव मानवता में सी ढलती
लगती अब आकृति जन जन की।

बहता नव रक्त शिराओं में,
भरता फिर मुझको नव यौवन,
मन, बुद्धि, प्राण, तन अस्थि स्नायु
सब कुछ हो उठे अधिक चेतन।

सत्तावन

कैसे न सृष्टि का लूटूँ रस
मन में जग के प्रति आकर्षण,
ये दृश्य गंध रस स्पर्श शब्द
मेरी ही आत्मा के वितरण !

मेरी प्रतिमूर्ति जगत अविकल,
विषयों में मैं ही वर्तमान,
इंद्रिय द्वारों से अपने ही
रस का करता मैं अमृत पान !

पर, अधोमुखी इंद्रिय पथ से—
कहता मेरा जीवन अनुभव—
ऊपर के भुवनों की शोभा
सुखमय है अधिक, अधिक अभिनव !

मन का रे सच्चा धाम वही,
जो बाह्य जगत् से भी वास्तव,
वह सूक्ष्म,—स्थूल से अधिक तृप्ति
उर का देता, नर को गौरव !

छोड़ो न स्थूल को, गहो उसे
रस सूक्ष्म पकड़ से मानस की—
ये स्थूल सूक्ष्म ज्यों शब्द अर्थ
जिनसे परिणति सम्भव रस की !

अठावन

जो तुम्हें समझना सृष्टि तत्त्व
तो देखो शैशव का स्मित मुख,
भूलो चिंता के कीचड़ में
डूबे जीवन के लघु सुख दुख!

कितना असहाय अबोध उसे
छोड़ा विधि ने जीवन पथ पर
वह मातृ प्रकृति का अमृत पुत्र
उसको अग जग में किसका डर?

कैसा निश्छल आनंद स्रोत
बहता उसके उर के भीतर?—
कैसी अद्भुत क्रीड़ा लीला,
मोहित पशुओं का भी अंतर!

स्वर्गिक चेतना तुहिन जल सी
उसके उर में पावन चंचल,
वह प्रीति तत्त्व की अभिव्यक्ति
जिसकी अचल छाया कोमल!

कंटक वन में वह फूल तुल्य
हँसता निस्पृह, विस्मय पुलकित,—

कृत्रिम भाषाओं से समर्थ
उसके खुलते गोपन इंगित।

विश्वास मुझे, शैशव के हित
जग का विस्तृत आँगन निर्मित,
भू का मल धो, नव शैशव को
चेतना केन्द्र बनता ज्योतित।

शिशु बनना ही रे चरम लक्ष्य,
यह आत्म ज्ञान की भी सित स्थिति,
गत अभ्यासों का जीवन रण,—
समरूप चेतना की अथ इति।

उनसठ

तुम रति सुख को अतिक्रम करती
वहती मन मे रस वन झरझर,
पुलकित हो उठते अग-अग
कँपता अतर आनन्द मुखर !

इस सुख मे ही खो जाय न मन
मुझको चलना जग के मग पर,
भू जन का मुख मेरे उर मे
जगता जाने क्यो पग पग पर !

मैं तुमको अर्पित हूँ—तुम जो
जन भू के, जन जग के ईश्वर,
साकार हो सको तुम जग मे
अविराम प्रतीक्षा मे युग नर !

युग प्रसव वेदना से पीडित
गर्भित तुमसे भीतर अतर,
नव मानव को दे सकूँ जन्म
मैं नव जीवन की जन भू पर !

निज विश्व काम से तुम परिचित
तुम जननि जनक, तुम ही शिशु नव,
यद नन भावी स्वप्नो का शिशु
होना जग म विम्बित गौरव !

साठ

वह नाम सुने, वह नाम गुने,
    पर नाम तुम्हारा ही अविजित,
वह अनुच्चरित रस शब्द
    गगन अन्तर मे जो निःस्वर गुंजित !

वह प्रतिध्वनित होता उर में
    विस्मित चेतस को कर तन्मय,
रोओं से झरते रस निर्झर
    जाग्रत समाधि लगती सुखमय !

कितने नामों मे जन जग में
    होता वह नाम मधुर मुखरित,
शब्दों से बन नव अर्थ
    अर्थ से भाव—चेतना मे अवसित !

देखे बहु रूप सुभग सुन्दर
    पर रूप तुम्हारा चिर निरुपम,
प्रतिपल ही वह निज शोभा से
    निज शोभा को करता अतिक्रम !

कितने रूपों मे जगती की
    श्री सुषमा मे होता मूर्तित,

तुम परम रूप जन संसृति के
    तुम मूर्त अमूर्त स्वत भासित !

तुम हरित चेतना धरती की
    मेरा तन मन करती मोहित,
नव रूप गढ सकू जीवन मे
    जिससे नव मानव हो शासित !

इकसठ

भू रज पर मन लोटा करता
बन जाती रज मुझको पराग,
भू पर मन नही, तुम्ही पर स्थित,
घेरे रहती पद प्रीति आग !

तुम मुझमे, तुममे रहता जग,
मैं जग जीवन का क्षुद्र अग,
तुमने जो गौरव दिया मुझे
उससे न करूँगा नियम भग !

स्वप्नो की भाषा म अब तक
करता था तुमको सबोधित,—
अब अपने को भी स्वप्नो से
विस्मृत सा कर लेता वेष्टित !

जब स्पर्श तत्व का पाता मन
ससार अधिक ही प्रिय लगता
वह दृष्टि नही मुझको भाई
तुमको जो जीवन से भगता !

तुम हो, निश्चय ही जगती मे
वपु कभी हो सकेगा मूर्तित,
तुमको जग म मानवता म
चाहूँगा दख सकू मूर्तित !

बासठ

कल बतलाऊँगा, क्या है वह
जो आत्म मुक्ति का पथ सुगम
जो लोक मुक्ति का भी पथ हो
जीवन के भी हो निकट परम !

दी स्वप्न दृष्टि मुझको प्रभु ने
जो जन भावी की सत्य दृष्टि,—
जीवन मे रत अतस्तल मे
होती नित जिसकी स्वर्ण वृष्टि !

नत शिर हूँ द्रष्टाओ के प्रति,
युग ऋषियो को करता प्रणाम,
जग मनीषियो का ऋण स्वीकृत,
उपकृत जिनके प्रति उर प्रकाम !

आस्था का सित रस स्रोत अगम
इनसे गहरा करता मज्जिन,
वह वहिरतर जग जीवन को
नव गरिमा मे करता छादित !

चित ईश्वरीय, रस सूत्र पकड,
अब उमड प्रकट होना बाहर,

नव मानवीय वन—छलक रहा
वह भर अतर-घट, वह झर झर !

भूमा के अतगत रहता
जीवन विकास क्रम—जन पोपक,
होगा समग्र मे परिणत वह
कवि केवल उसका उद्घोपक !

बासठ

कल बतलाऊँगा, क्या है वह
जो आत्म मुक्ति का पथ सुगम
जो लोक मुक्ति का भी पथ हो
जीवन के भी हो निकट परम !

दी स्वप्न दृष्टि मुझको प्रभु ने
जो जन भावी की सत्य दृष्टि,—
जीवन मे रत अतस्तल मे
होती नित जिसकी स्वर्ण वृष्टि !

नत शिर हूँ द्रष्टाओ के प्रति,
युग ऋषियो को करता प्रणाम,
जग मनीषियो का ऋण स्वीकृत,
उपकृत जिनके प्रति उर प्रकाम !

आस्था का सित रस स्रोत अगम
इनमे गहरा करता मज्जित,
वह बहिरतर जग जीवन को
नव गरिमा से करता छादित !

चिन ईश्वरीय, रस सूत्र पकड,
अब उघड प्रकट होता बाहर,

नव मानवीय वन—छलक रहा
वह भर अतर घट, वह झर झर।

भूमा के अतगत रहता
जीवन विकास क्रम—जन पोषक,
होगा समग्र मे परिणत वह
कवि केवल उसका उद्घोषक।

पैंसठ

अनुभव से ही बात
ज्ञात होती नित सारी,
जीवन का सुख सहज
सरल शीतल होता है।

जाग्रत करता वह मन को—
रस पावनता मे
अपने भीतर डूब मनुज
न कभी खोता है।

दुरुपयोग आनद का किया
सिद्धो ने वर
सूक्ष्म स्नायु उत्तेजन को
आनद समझकर।

शील नम्र होता वह
सहृदय जग जीवन प्रति,
स्वाभाविकता ही होती
उसकी विशिष्ट गति।

सहज कर्म म रत रहता मन
बिना ख्याति के,

इद्रिय रस बरसाती रहती
विना भ्राति के।

मिट जाता कापण्य हृदय का—
भू का आगन
मोहक लगता—निमल पावन
तीय स्नात मन।

मनोयत्र का एक अग रे
सहज शात सुख,
कहीं उसी मे विम्वित रहता
शाश्वत का मुख।

क्लाति सकल मिट गई
स्पश पा सुख का भीतर,
सुलझ समस्या- गई
निकट लगता जग वाहर।

छासठ

आज सवेरे
समाचार सुनता था जब मैं
चित्र मुकुर म मेरे
नयना मे जग उठनी
हरी दूब की कोमल रेखाएँ—

आँगन मे
पत्थर की स्लेटा की
कृपण दरारा से जो
झाक झांक कर वाहर
सहज निकल आई थीं—
हरी हँसी मे डूबी
लोट पोट आगन पर!

मुझसे स्पष्ट स्वरो मे वे
कहती जाती थी—
'हममे जो जीवनी शक्ति
उसको तो देखो!

'तुम सहजन के प्रेमी हो!—
विस्मय मे डूबे
सोचा करते—
डालें कटने छँटने पर भी

वह प्रतिवर्ष
नयी शाखाओ मे खिल उठता,—
नव फूलो फलियो से
श्री मंडित हो पुष्कल !
कैसी सजीवनी शक्ति दी
उसको विधि ने !'

'मैं कहती हूँ'—हर्ष हरित
रोओ मे पुलकित
सहज खिलखिला—बोली दूब,
'मुझे देखो ना !

'पत्थर हो पाषाण—
फूट आती मैं वाहर,
हलकी फुलकी हरी
तृणावलि मे परिधानित !

'लू झड अधड सहकर भी
मुसकाती रहती, !
मुझे पाव के नीचे
यदि कोई कुचले भी
नम्र शील मे लिपटी मै
अपना आहत सिर
ऊँचा कर, सासो मे भर
सद्य समीर—फिर जी उठती हूँ !

सहज स्नेह से विछकर
परो तले जना के

मृदुल पावडा बन
जन जन का स्वागत करती।
न्योछावर रहती हूँ भू पर
स्मित अचल भर।

तुम दुबलता इसे समझकर
हँस सकते हो।—
क्योंकि बुद्धि की और हृदय की
भाषा अपनी अपनी होती।

भू की सजीवनी शक्ति मैं,
लिपटी रहती हूँ धरती से
रज मे गुम्फित।—

'फिर जतर यह—
सहजन ऊर्ध्वमुखी हो
फलता गगन नोड म।

मैं समतल गति म भी
चलती पलती रहती।

'म कहती हूँ—
भल ताड स ऊँच हा तुम
अपन गहर मूल
जमाए रहा धरा म।

'मानवीय दा रूप उस
सस्कार नया दा—
बन रहा पृथ्वी ही प ही—

उसके आगन मे
जीवन की हँसी बखेरो,—

'देवो पितरो की माता वह,
भगवत् लीला स्थली
सनातन !'

सठसट

जीवन प्रमी हो जा
मोमुरा म रह न गाए,
गुण प्रबुद्ध हो,
जीवन के अनुभव म ट्टाए घोप !

जीवन का प्रिय क्षण
धरा की श्री शोभा का आंगन,
हास अश्रु का, तम प्रकाश का
जो स्वर्णिम आलिंगन !

त्रुटियाँ कर हम जग मे
सीखें सदसत का मूल्यावन,
अधिक योग से रे
प्रयाग का जन धरणी का आंगन !

नयी सफलता की सोपान
बने फिर फिर असफलता,
आख मिचौनी खेले मन से
जीवन की चचलता !

जीवन, प्राणो की सरिता,
जो स्वय खोज लेती पथ,

कर्म सृष्टि का चतुर सारथी
जग जीवन जिसका रथ!

कर्म करो, दो जन्म कला को,
रचो धरा मुख सुंदर,
रचना जीवन मंगल वाहक—
पृथक् न जग से ईश्वर!

यदि प्रभु सँग, सिकता कण भी
सोने मे होते परिणत ।

बोझ वाह्य सपद् मानव हित
हर्म्य विपद् के खँडहर,
अक्षय निधि का कोष हृदय म,
शक्ति स्रोत नर अतर ।

तुम न अभागे,—निर्धन हो यदि
गहो प्रीति से प्रभु कर
निखिल वभवो के स्वामी वन
आत्म दान दो निभर ।

उनहत्तर

स्नेह तुम्हारा सदा
सदानीरा भी बहुवर
जीवन की भू को रखता
भावों से उर्वर ।

चंद्रकला की नाव रूप की
शुभ्र - इंगित
पार लगाती भव सागर में
दिखा तीर नित ।

धर्म प्रेरणा, सहजोल्लास
हृदय में सहचर
पावन करते दिव्य स्पर्श से
मेरा अन्तर ।

पग पग पर पाता हूँ मैं
अपने को अर्पित,
नहीं जानता किसे बताऊँ
अपना अर्जित ।

अहंहीन नर, दंष्ट्र रहित
मणि फण सा स्तंभित
खल जन से पीड़ित,
तुमसे रहता संरक्षित ।

सत्तर

जाडे की प्रिय धूप
सहज लिपटी विटपो से,—
मुझे खेलने को ललचाता
भू प्रागण !

काटे उग आए
जन धरणी की छाती मे
कब मे जाने नही निराया
भू का वन !

रूढि रीतियो मे युग युग की
जकडा भू मन,
कपालो मे खडे
अध विश्वास घोर,

जाति, सप्रदायो, धर्मो ने
जन भू पजर
जकड लिया !
घन अधकार का नही छोर !

परिवर्तन की आधी
दौड रही जगती मे

इकहत्तर

पशु स्तर पर ही अभी
सभ्यता भू पर जीवित
जो कि भ्रूण हत्या को करती
धिक् विधि-स्वीकृत !

पथरा गया हृदय
युग मानवता का निश्चय,
पशु भी मुझको आज
मनुज से लगते सहृदय !

शिशु के सबसे निकट
सहज शुचिता में ईश्वर,
सृष्टि भ्रूण-अंकुर पर
पग पग पर न्योछावर !

आध्यात्मिक नैतिक शिक्षा से
जनगण वंचित,
आध्यात्मिकता तुच्छ
कर्म कांडों में सीमित !

बाहर से ही मनुज सभ्य,
भीतर वह बर्बर,

आतर ग्राति मनुज को
लानी जनधरणी पर

सभी मनुष्य समान रीति से
जग मे होते,
मानव-वशी वच्चे
वश न अपना खोते ।

आत्मा का प्रतिनिधि हो
जग का जीवन वाहर,
विचरे धरती पर
सस्कृत नर वेशी ईश्वर ।

बहत्तर

मेरा गीत रहेगा
अभी जगत् मे अलिखित
सूक्ष्म स्वरो से
बधिर जनो के श्रवण न परिचित !

मेरा प्रेम अतृप्त रहेगा
भू जन के प्रति
हृदय ले सका जन्म न
जिसमे हो निश्छल रति !

मेरा कर्म रहेगा अभी
जगत् मे निष्फल,
जन उसका उपभोग कर सके—
नही मनोबल !

कैसे ईश्वर परिक्रमा
कर पाएगी गति ?—
जग मे प्रभु को स्वीकृत
कर पाई न मनुज मति !

जहा समापन होना
युग के मन का चिन्तन
वही झरोखे से उर के
प्रभु देते दर्शन !

तिरहत्तर

जान क्या आनदवाद के
पीछे मोहित
सुख दुख के जीवन को
सुज्ञ समझते गर्हित ।

मैं प्रमी हूँ, मुझे
प्रेम ही की परिणति नित
लगती है आनद, ज्योति म,
शाति मे अमित ।

वह छूछा आनद
भुला देता जो जग को,
निर्मित करता नही
लक्ष जीवन के मग को ।

रिक्त स्नायविक उत्तेजन वह
लक्ष्य से रहित,
आत्म भाव म लीन—
समग्र बोध से वचित ।

शाति ज्योति आनद
तत्त्व आत्मा के निश्चित

समाधिता

जीवन रचना मे करना
जिनको सयोजित ।

प्रमो मधुकर गुजन भर
मधु छत्र वनाना,
हृदय खोल कर कोयल
मधु ऋतु स्वागत गाता ।

वे भी किसी रहस्य–
स्पश मे होते प्रेरित,
निज उर का आनद
जगत् प्रति करते अर्पित ।

अत न ऊपर के वैभव मे
साधक हो लय,
जन भू रचना करे
प्रीति रति रस मे तन्मय ।

चौहत्तर

नवल युवतिया, आओ,
निज कवि के संग बठो
सहज भाव स उसके
मुक्त हृदय म पठो।

मुग्धा तुम, धरती की
श्री शोभा की प्रतिनिधि,
रूप-बाध मे खोई,
यौवन चचल सब विधि।

नयी भूमिका तुम्ह निभानी
जन भू मग मे,
मनुज सभ्यता नव विकास के
पथ पर जग मे।

विश्व मच यह, जहाँ
प्रसाधन से भी बढकर
आतर श्री चाहिए—
वही साधन श्रेयस्कर।

तन से श्री सु दर तुम
नव यौवन से वेष्टित,

समाधिता

मन की सुंदरता का मूल्य
अधिक, यह निश्चित ।

भू गृहिणी तुम रही
स्नेह-गृह में सरक्षित,
जग के सम्मुख तुमको
होना आज उपस्थित ।

शील, मन सस्कारो ही का
मूल्य महत्तर,
अत सस्कृत हो तुमको
सस्कृत करना नर ।

मुक्त हृदय से मिलो,
भाव हो अन्तर्दीपित,
स्वस्थ आत्मविश्वास चाहिए
तुम्हे अपरिमित ।

जीवन को व्यक्तित्व नया
देना दिग् भास्वर,
भावी जग मे तुम
ईश्वर की प्रतिनिधि सुदर ।

पचहत्तर

आज सवेरे
एक बरस की बच्ची सुमिता
अपने फूलदार गद्दे के ऊपर बैठी
कमर की गुदगुदी फर्श पर—
बार बार
निज चचल मृदुल हथली फला
और बद कर,
पकड़ रही थी तन्मय
हँसमुख स्वच्छ धूप की
प्रिय टुकड़ी को,—
जो जाली की खिड़की से छन
उसके सम्मुख पड़ी हुई थी
चादी की गुडिया सी उजली—
चिड़िया की नन्ही बच्ची सी
अपने रामिल पख खोल
उड़न म अक्षम ।

उसकी उस निरीह चेष्टा को
दख अचानक
मैं विस्मय म डूब
हप अभिभूत हो उठा ।

यह अबोध चेष्टा थी
या अद्भुत साहस था ?

मन अनजाने लगा सोचने—
क्या हम सब भी
नही बाल चेष्टा करते
अज्ञात रूप से—

जो अमूर्त को मूर्त समझ कर
बार-बार
उसका विश्लेषण
सश्लेषण कर—

परम सत्य को
अल्प बुद्धि की मुट्ठी मे भर
उसे ग्रहण करने का
सतत यत्न करते है ?

छिहत्तर

तुम ‍प सरोवर हो निमल
मैं तीथ स्नान जिसम करता,
भावा ने कोमल स्पर्शों से
अकरुण विपाद मन का हरता।

सौन्दय तुम्हारा केंद्रित हो
खिल उठता उर म वन सरसिज,
प्राणो के अलि भरते गुजन,
गीता की लय बुनता मनसिज।

अतर की मोहित लहरो म
हाती असीम की छवि विम्बित,
मैं कूल तुम्हारा बन जाता
जिसमे अकूल बँधता सीमित।

क्षण मे अमूत हाता मूर्तित
श्री शाभा वभव मे पुष्कल,
जगा की सगति मे ढलकर
तन्मय हो जाता अतस्तल।

सतहत्तर

फूलों की सेज नहीं जीवन
रे, ज्ञात मुझे कटु सत्य गहन,
विरला ही काँटा हो जिसने
वेधा हो नहीं सतत तन मन !

पर फूलों की कोमलता का
रस बोध मुझे देते काट,
ऐसा कुछ नहीं कि, विधि निर्मम,
दुख आए मेरे ही बाटे !

आनन्द स्पर्श से मुझको प्रिय
सुख दुख का दंश सदा लगता,
मेरे अंतस्तल में सोया
खोया मानव उससे जगता !

मानव की ममता कहीं अधिक
सुख दुख की क्षमता से निश्चय,
यदि हो अंतर में सूक्ष्म दृष्टि
जीवन ईश्वर लगता सहृदय !

जो सुख जग जीवन की भू पर
वह नहीं रिक्त मन के ऊपर,
मत वाष्प बन अटको नभ में
बरसो रस सीकर बन भू पर !

अठहत्तर

अन्तर-नभ से मैं जीवन की
भू पर आया हूँ सहज उतर,
सुरधनुभृत वाष्पा के जग से
शस्यस्मित रज पर मुक्त विचर।

जन भू का सीमित हरा क्षितिज
मन को देता हँस आलिंगन,
अब रंग गंध कलि कुसुम नवल
रँगते मन, सुरभित करते तन।

श्रम स्वेद हृदय को प्रिय लगते
सित कम पंक में सनता मन
जीवन के अभिनव अनुभव से
लगता असीम घर का आँगन।

आश्वस्त हृदय नव पीढ़ी में
मेरा अमरत्व सतत मूर्तित
उनके नव जीवन यौवन में
मेरा मैं जग में संरक्षित।

मैं बन कर आए तुम मुझ में
मैं समझ सका था मर्म नहीं
अनुरूप तुम्हारे बन कर अब
माँगू ईश्वर संभूति यही।

समाधिता

उन्नासी

छनकर गवाक्ष से प्रथम किरण
मेरा स्वागत करती सहृप,
मधु वायु लिपट जाती तन से
वह, मगलमय हो नया वप !

मैं अधिक जगत् के निकट आज
जग मेरे अधिक निकट निश्चय,
मिट गया हृदय का दैन्य द्वन्द्व,
अब रहा न मन मे भय सशय !

सित प्रीति करो से सृष्टि रचित
जीवन पदाथ जन मगलप्रद,
सुख दुख के भव सघर्षों मे
अन्तर्हित प्रभु की रस सपद् !

जो दे, उससे सताप न हो,
जो लें, उससे पा परम तोप,—
हमको अपूण यदि लगे सृष्टि
अपने ही को दें पूण दोप !

आओ, मन की कुठा छोडे,
देखें उन्मुक्त जगत का मुख,
नीला नभ निरख हरी धरती
भोगें प्रभु की सत्ता का सुख !

अस्सी

आओ, देखें शिशुओं का मुख,
टूटें प्रिय वन फूलों का सुख,
सन्तुलित चित्त जब हो मानव
तब दूर करे वह जग का दुख।

करवट लेती जब एक लहर
हिल्लोलित हो उठता सागर,
सुख दुख न व्यक्ति के भिन्न कभी
जग से,—दोनों युगपत निर्भर!

अब गया व्यक्ति चिंतन का युग,
श्रेयस्कर सामूहिक मंथन,
जीवन विकास पथ पर, क्रमश
आ रहा वृहद् युग परिवर्तन।

पकड़ो जीवन की बागडोर
जग का विकास हो पग पग पर,
भूमा—सामूहिक जीवन—पर
जन हास अश्रु, निज-पर निर्भर।

नव दृष्टि मिले युग मानव को
दुर्बल कुंठित उर को सबल,
प्रभु पृथक न विश्व प्रगति पथ से
भव कर्म करो, हो भू मंगल।

इक्यासी

श्रम स्वेद मनुज काया के गुण,
श्रमहीन रहे जो मन, उत्तम!
मन हो प्रकाश स्मित, झेल सके
वह बाह्य जगत् जीवन का तम!

तम ज्योति भ्रातृ भगिनी निश्चय,
दोनो ही चिर पावन सुदर,
छूछा वह ईश्वर, जो केवल
ज्योतिमय,—नही तिमिर सहचर!

तम औ' प्रकाश के स्वामी जो
मेरा उर उनका चिर अनुचर
तम औ' प्रकाश के सित स्वर्णिम
सयोजन का प्रेमी अतर!

जीवन रे जग की निधि जन प्रिय
यदि जन ईश्वर पर अवलंबित,
नम रथ, प्रकाश सारथि बन कर
पथ पार करें उनका निश्चित!

प्रिय रूप जगत ही सत्य मुझे
शाश्वत अरूप जिसका दपण,
निगुण अमूत मे भी मुझको
मिलते स्वरूप ही के दशन!

बयासी

जिनको प्यारा भू जीवन
मन उनको देता आदर,
जो कुछ जीवन दे, नत सिर
स्वीकार करे उसका वर !

भंगुर रूप, अमर गुण जिसमे,
यह जीवन जगदीश्वर,
व्याप्त चराचर मे जन मादन
मा। मोहन मुरली स्वर !

आओ, मिल जग के आंगन मे
फूलो के सँग खेलें,
उडे विहग पखो पर मन,
अधड दिशि दिशि के झेलें !

भरी हलाहल के प्याले मे
मधुर सुधा जीवन की,
मदिरा की मादकता, सजन
क्षमता नव यौवन की !

धूपछांह जिसमे स्वप्नो का
वास्तवता का गुम्फित,
मानवता का स्वर्ग करो
निर्माण न हो ह कुठित !

तिरासी

नाम धाम का भले न हो
गौरव, जीवन साधारण,
हृदय आत्म सतुष्ट रहे,
छोटा घर, छोटा आगन !

जीवन प्रति हो आकर्षण,
भव कर्म निरत हो तन मन,
फूल खगो से सहज स्नेह
हँसता सा हो गृह उपवन !

जीवन की गति विधि मे रस ले
उच्च अभीप्सा रत मन,
आशान्वित उर सुख स्वप्नो का
क्रीडास्थल हो प्रतिक्षण !

सुहृद एक दो हो अभिन्न,
सम भाव शत्रुओ के प्रति,
द्वेषी जन के प्रति उदार मन,
ईश्वर दे ऐसी मति !

सम्भव हो तो, कला साधना मे —
दीक्षित हो अन्तर
जन-भू स्वर्ग रचे मगलमय,
सार्थक जीवन हो, नर !

चौरासी

सौ सौ आँखों से देख रहा
मुझको ताराओं का अम्बर
भावी स्वप्नों के अंकुर से
जो लगते मुखरित दिग् भास्वर।

नभ के आँगन की दीपावलि
उद्दीप्त चेतना जो करती
मैं उससे परिचित हूँ भव मे
वह मेरा जीवन तम हरती।

ताराओ के नभ से मुझको
फूलो की भू लगती सुदर,
तारे रहस्यमय है अवश्य,
पर फूल जनो के प्रिय सहचर।

रवि शशि, तारा दीपो ही म
आलोक नही केवल मूर्तित,
फूलो के रगो, मानव के
त्वच् अगो मे भी वह दीपित।

आलोको का आलोक एक
जो नही ज्योतिमय या तममय,—
वह अभिव्यक्त जग मे समस्त,
वह रचना प्रिय, न मुझे सशय।

पचासी

जो देश गरल्वत् गत युग के
उनसे हमको लड़ना न कभी,
उनको करना नित आत्मसात्
हम हो सकते दिग्जयी तभी ।

जो रे समथ, जा शक्तिमान
उनकी न विजय जग मे निश्चय,
जन इच्छा, जन सकरप शक्ति
सर्वोपरि अस्त्र—नही सशय ।

सभव, अणु अस्त्रो स भू की
भित्तिया टूट जाएँ दुजय,
रस स्पश तुम्हारा पाकर ही
सम्भव भू-रचना नि सशय ।

अणु अस्त्रो के दारण युग मे
अब असुर शक्ति हो चुकी विजित,
सद्भावो से, सद्यत्नो से
भू की भावी होगी शासित ।

रस अमृत मेघ अभिनव जीवन,
रण अस्त्र नही उसके साधन.

जो रागों से वह अजेय
    पवित्र करेगा भू प्रांगण !

उसके साधन हैं दया क्षमा
    वह मनुज प्रेम का आराधक,
हैं राग द्वेष शत्रुता समर
    उसके रचना-पथ के बाधक !

जन सामूहिक संघर्ष कर
    कर घृणा द्वेष भय का वर्जन,
नवविश्व निर्माण करें जग का—
    जो वास्तव में प्रभु का पूजन !

छियासी

गूथ चुका प्रिय वेणी कितनी वार
गध मधु के सुमनो से—
मूर्ति गढ चुका हूँ सुकुमार
मधुर स्वर्गिक कल्पना क्षणो से !

पहना चुका सुरभि के हार
सँजो वक्ष स्थल,
लतिका के कगन
कलियो की गुजित पायल !—

भावो से शृगार तुम्हारा
करता आया प्रतिक्षण,
सुरँग कुसुम जिनके प्रतीक भर
रहे अकिंचन !

कितनी कोमल हो तुम
कोमलता से कोमल,
कितनी निरुपम, पावन,—
निखिल विश्व मे व्याप्त अनिवच
शोभा छू लेती मन !
बन भावी प्रेयसी
मनुज की, हृदय चेतने,
करो उपस्थिति से
उपकृत भू प्रागण !

सत्तासी

देख रहा हूँ एक वृहत् शव
जीवन के आँगन म,
मौतिकता के यत्नो से
सरक्षित अपनेपन मे !

जड अतीत के भावो, वचनो
धर्मों का, वह प्रतिनिधि,—
वही जीर्ण मृत रूढि रीतियाँ
परपराएँ, गति विधि ।

बदल गया उसका गत स्मारक
सौध गगन चुबी बन,
बाहर के परिवेश शेप में भी
आया परिवर्तन ।

दिखता वह अब भी जीवित सा,
उर स्पदन से विरहित,
जन जीवी आकाश बेलि सा
मन प्राणो मे गुफित ।

मृत्यु - दृष्टि से उसकी
जगती का जीवन सम्मोहित,

विकसित हो पाता न रच
गत भय संशय से पीड़ित ।

समय आ गया, देवासुर मिल
करें सिंधु मथन नव,
नव मूल्यों के रत्नों से
मंडित निखरे नव मानव ।

जीवित हो जो जग के प्रति,
जन के प्रति हो उर स्पंदित,
गत सदसत् को अतिक्रम कर
नव करे सभ्यता निर्मित ।

युग प्रबुद्ध नर, विचर सके जो
ईश्वर के संग भू पर,
शव का कर संस्कार
रचे परिवेश जगत का सुन्दर ।

मृत अतीत शव को ढो हम,
देखो भविष्य का आनन,
धरा-स्वर्ग रचना प्रतीक हो
वर्तमान का प्रांगण ।

अठासी

आत्म बोध कर प्राप्त
पहुँच कर सत्य शिखर पर
क्या भारत का जीवन प्रांगण
जर्जर खँडहर ?

दुःख दैन्य से दर्शित
घोर अविद्या पीड़ित
भू के बर्बर हिंस्र जनों से
शोषित, शासित !—

कभी प्रश्न पूछता
विकल होकर मेरा मन
क्यों खोया भारत ने
बहिरंतर संयोजन ?—

द्रष्टा के गौरव से
होकर आभा मंडित
उसको होना था संपन्न,
अजेय, अखंडित !

उत्तर देता तब निगूढ़
चिंतन रत अंतर

भारत भारत नहीं,
अपृथक विश्व जग भर !

भारत का संघर्ष
विश्व-संघर्ष असंशय,
उसको पाना निखिल
धरा की जड़ता पर जय !

निश्चेतन के अंधकार का
पर्वत जीवन
आलोकित करना उसको
धरती का कण कण !

जब तक हटे न घृणा द्वेष
स्पर्धा भू मन से
तब तक स्वर्ग बसा सकते
जन भौतिक धन से ?

भू के प्राणों के जीवन को
होना संस्कृत,—
जाने कितने युग बीते
हो सका न इच्छित !

जब तक उपचेतन कर्दम से
उठे नहीं नर
आध्यात्मिकता हो सकती
चरितार्थ न भू पर !

पर अप्रतिहत जीवन की
    चेतना अनामय—
प्राणों में बहती—
    नर होगा हाँ! सहृदय!

आभा-रत भारत
    काटेगा जन भू का तम,
धरती का सा धैर्य चाहिए,
    अविरत तप श्रम!

नवासी

बोल रही पहिली कोयल
तरु की डाली से—
स्वागत, स्वागत !
बौरा उठी नयी अमराई !—
!
सोने चादी की छायाएँ
तिरती वन मे,
नयी चेतना, नयी भावना
भू पर छाई !

नव वसत प्रेरणा-दूत
तरुओ के जग का,
लता कुज तृण गुल्म
सभी मधु-मद से पागल !

मलय समीरण की सौरभ से
मत्त दिशाएँ
सोया पतझर जाग उठा
वन जीवन-मासल !

पृथक् कभी भी नही
जगत् मे प्राक्तन नूतन,

नये सदा से प्रात सध्या,
शैशव यौवन !

आत्मा का अमरत्व
भोगते तन मन जीवन—
नित नवीन बन आते
शाश्वत से गर्भित क्षण !

लोग फलों के प्रेमी,
आम फलों का नृप भी,
आम्र वनों में छाई अब
पीताभ ललाई !—

कलाकार, मधुवन का कवि पिक,
उसको भाती
धरती की मजरित
सुगध मदिर तरणाई !

नव्वे

कितने कोमल हो तुम
कोमलता से कोमल
स्मरण तुम्हारा आते
खिल उठना अन्तस्तल ।

मृदुल मृदुलतम हृदय
वज्र सकल्प अमक्षय,
इच्छा कर लेने से ही
तुम पा जाते जय ।

निमम से निमम भी
मार न सकता निश्चय
कामलतम जन को
जो सच्चा स्नेही, सहृदय ।

यह मेरे अर्पित जीवन का
जग मे अनुभव
जहा ग्राह मुह वाए—
वाहर से वन मानव ।

काली से भी काली
छाया के छूने पर

भूल दिव्य सपद
शत शत स्वार्थो से क्वलित ।

धरा स्वर्ग का निर्माता
होगा वह मानव
देश काल से उठ कर जो
तुममे स्थित रह कर
जीवन का निर्माण करेगा—
सुख दुखो मे
सुख दुखो से ऊपर ।

व्यक्ति सुसभ्य समाज के लिए
यही समर्पित पथ
श्रेयस्कर,
विश्व के लिए ।

बयानवे

पापी नहो जगत मे कोई ।—

यह दायित्व नही मनुष्य का
उसके भीतर
काम क्रोध की, लोभ मोह की
प्रवृत्तिया हैं ।—
विश्व प्रकृति ही इनकी जननी ।
सब का ही उपयोग
जगत के क्रम विकास मे ।

मानव से आशा की जाती
सदुपयोग वह करे
वृत्तिया का जीवन मे ।
उसकी स्थितिया
इस सबमे बाधक हो सकती ।
अत क्षम्य उसकी दुबलता,
मानवीय जो ।

मुक्त हृदय वह रहे
कम फल छोड जगत् के
स्रष्टा पर, जीवन ईश्वर पर ।

शिव से शिवतर हो उसका पथ—
मूल्य सृष्टि क्रम मे होता
प्रत्येक चरण
प्रत्येक कम का ।

तिरानवे

वहुत दुख झेला अह,
भारत की नारी ने ।
एक तरह से निखिल विश्व मे
सब देशो की नारि जाति ने ।

बंदी उसका जीवन,
तन मन,
बंदी उसकी आत्मा
नर के काम पाश मे ।

स्त्री गगा है ।
नाले भी मिल जाएँ उसमे
वह पवित्र, निर्मल ही रहती ।
मा है वह ।

नया संतुलन आज चाहिए
स्त्री पुरुषो के सम्बधो मे—
काम द्वेष से मुक्त हो मनुज,
मुक्त हो धरा ।

स्त्री व्यतीत कर सके
मुक्त जीवन—

पुरुषों की
तप्त लालसा के दशन से
सरक्षित हो ।

रचे नया मानव अतस वह,
क्षुद्र वासना
शुद्ध प्रीति रस मे
परिणत हो ।

स्त्री मस्तक हो उच्च,
मुक्त वैधव्य चिह्न से ।
चद्र कला सी
वह नवीन ही रहे नित्य प्रति,
स्निग्ध प्रीति ज्योत्स्ना बरसाती
शुष्क हृदय मे ।

श्री सुषमा की
प्रीति मधुरिमा की
प्रतिनिधि वह
जन धरणी पर ।

सभ्य न हो सकता समाज वह
जिसमे नारी मुक्त न हो ।—
कदम से ऊपर
अपनी ही सुदरता मे
निखरी सराज सी ।

चौरानवे

दशा ा युग युग ग
अस्वीकार ही किया
जीवन का ।—
चेतस के मूल्यों का विकसित कर।

हम केवल मन के मन के
मूल्यों से रहते ।
जीवन के प्रति आशंकित,
सन्त्रस्त, विरागी ।

जीवन के मन को हम को
विकसित करना है ।—

जो समस्त जीवन के
क्रिया कलापों को फिर
स्वीकृत कर,
उनका मूल्यांकन कर
प्रवृत्ति की मुक्त दृष्टि से
निखिल इन्द्रियों के वैभव को
नया मूल्य दे ।—

जिससे मानव मुक्त रूप से
जीवन का उपभोग कर सके

नव समाज रच ।—
गत विरक्ति, निर्वेदो के
कटक उखाड कर
जीवन भू से ।—

मन का नव सस्कार करे
जीवन के स्तर पर ।
इन्द्रिय हो ईश्वर की प्रतिनिधि,
सस्कृत जीवन,
धरा स्वर्ग नव गढे मनुज ।

उर सिंहासन पर
स्थापित कर जीवन-सम्राट्
पूर्ण गौरव मे ।

दर्शन के आक्रमणो से
रक्षा कर जन की ।

पचानवे

स्वप्नो की शय्या पर
सोए भाव हृदय के
खोज रहे स्वर शब्द
व्यक्त कर सके तुम्हे जो—

मन्त्र गुजरित नीड
बसा नव सर्ग तुम्हारा
मनुज हृदय मे !
उसे प्रेरणा पखो पर
प्रेरित करने को
आतुर हो !

प्रिय भाव,
धैर्य रखना सीखो तुम,
बद द्वार अब मानव मन के—
घोर अँधेरा छाया भीतर !

जुगनू सी जो स्फूर्ति
जाग उठती क्षण भर को
वह नि शब्द महाधकार मे
लय हो जाती !

दीप्त करो अपने को समधिक
प्रथम किरण बन शुभ्र सुनहली
वेधो तम की दृढ प्राचीरें—
स्वप्न
भग हो मन का !

स्वय गा उठेगा वह
चिन्मय रश्मि स्पश से
प्रथम विहग शिशु सा
पुलकित हो !—
मातृ क्रोड मे जगकर
जग के नय क्षितिज मे !

नवोल्लास के कलरव से
भर जाएँगी दिशि,
अतर का उन्मुक्त नील
पखो की गति से
आदोलित हो
उतर पडेगा जन भू पथ पर !
नय शब्द को
तभी जन्म दे पाओगे तुम !

छियानवे

मेरे मन,
सजना करो,
सजना करो तुम,
जीवन ईश्वर के प्रति
अपने को अर्पित कर!
ज्योति, प्रीति, आनद इसी में
शाति इसी मे!

सारथि भर मन जीवन नृप का
जिसके सकेतो पर ही वह
कर्म चक्र सचालित करता
निर्धारित कर लक्ष्य की दिशा!
यह निगूढ गोपन पद्धति
भूपति जीवन की!

बदी नर
गत अभ्यासा के
पथराए मानस पिजर मे,—
पख कट गए उसके
रस प्रेरणा बोध के!
रूढि रीतिया की जडता मे
जकड गया वह
नि स्पदित
पथराए शव सा!

मन से सर्जित
कृत्रिम स्थिर
सकीण लोक मे
विचरण कर नित

भूल गया निश्चय ही वह
ईश्वर के जग को,
विश्व प्रकृति के प्रागण मे जो
व्याप्त आक्षितिज !—
राग द्वेष स्पर्धा विरहित,
निष्कलुप, नित्य नव !

अपने ही अतर नियमो से
परिचालित जो
मौन प्रतीक्षा करता—
मानव जागे उसमे
श्री शोभा आनद प्रेम की
रचना मे रत !

सतानवे

भीतर का मन ही
वास्तव मे मन है सच्चा,
उसे हमे आश्वस्त प्रथम
करना होता है ।

वही सत्य के प्रति भी
निणय ले सकता है—
बाहर का मन
वस्तु जगत् का मन है केवल !
बाहर के जीवन मे उलझा !

उसका ज्ञान
अधूरा ही होता,—
वह हा ना
कहने मे असमथ,
—सत्य का प्रश्न जहा है !

वस्तु मनस पर
भाव मनस की
छाया रहती अनजाने ही !
शुद्ध भाव मन
यदि वह पूण समर्पित है

सच्चा निर्देशन कर सकता है
सत्य मृषा का।
ठीक दिशा दिखला सकता
जीवन यात्री को।

वस्तु बोध
केवल सूचना मनुज को देता,—
वह शुभ हो या अशुभ।

भाव मन
शिव का बोध
हृदय को देता।

अत भाव मन के विकास को
मनुज प्राथमिकता दे—
पूर्ण तभी होता नर
जब वह
ईश्वर के प्रति अर्पित होता,
उसमे ही स्थित।

अठानवे

जीवन के गुण गाएँ
चाहे मन आत्मा के—
आस्था बिना नही सार्थकता
जग मे इनकी !

रिक्त अनास्था
सशय त्रास व्यक्त करते जो
कला शिल्प मे—
वे भी आस्था रखते
मैं कह सकता निश्चय !

बाहर से वे भले
सुज्ञ बौद्धिक बनने का
अभिनय कर
जग के मायावी रग मच पर
अपने को ऊपर दिखलाएँ
इन सब से ही !—

क्षण भर का भी कोई
आस्था रहित जगत म
रह सकने का दभ
नही भर सकता !—

आस्था
भले स्वय पर हो,
अथवा अपनी स्थिति पर हो !

ऐसे भी हैं जो
अपने को जग के सम्मुख
नास्तिक बतला—
घर के भीतर
शीश नवाते रहते प्रतिक्षण
अनगिन देवी देवो के
चरणो पर अविरत !—

यह जो भी हो !
आने वाला युग
आस्था ही का युग होगा !—

यत सभ्यता जब
बालू की भित्ति की तरह
नष्ट भ्रष्ट होने को होगी—

अणु अस्त्रो से नही,
मनुज के अहकार से—
उसके उर के अधकार से !
(मुझे सहज विश्वास
न आएगी ऐसी स्थिति !)

मानव मन ऊपर के
सूक्ष्म सबल दबाव से

आस्थावान स्वय वन जाएगा !—
जन भू पर
वही मात्र
ईश्वर का प्रतिनिधि
वन सकता है !

निन्यानवे

गगा यमुनी युग अव
विचर रहा धरती पर,
प्राक्तन नूतन वहते
गुंथे एक वेणी मे,
सामूहिकता एक ओर
व्यक्तित्व दूसरी
ओर, शनैं चढते युगपत्
जीवन श्रेणी पर ।

विघटित होता गत युग का
जीवन मन धीरे,
अधकार गहरा ही
घिरता जाता प्रतिक्षण,
गहन तमस को चीर
फूट सी रही नव किरण,
नव युग वोध, विकास
वढाते मद गति चरण ।

वह अतीत के अधकार के
साथ धरा जन,
कुछ नवीन का स्वागत
करने को अव तत्पर ।

एक ओर पनतावार
अभ्यास युगो के
सूक्ष्म दूसरी ओर
चेतना धार क्षीणतर ।

आओ, बैठो कवि के सग,
भावी नारी नर,
नया क्षितिज जो खुलता
ज्योति द्रवित दग सम्मुख
तीथ स्नान कर उसके
रस आलोक मे मधुर
नव भू जीवन रचना के प्रति
हो हम उन्मुख ।

श्वेत पख फलाए
समता छाई भू पर
गुण वैशिष्टय
सहस्रो वर्णो मे दिग शोभित,
मानवीय एकता महत्
जन समता से जो
भू मानस को प्रज्ञा से
करती आलोकित ।

अश्रु स्वेद मे सन आओ,
श्रम तप साधन से
भू जीवन को करे
स्वग जीवन मे परिणत,
हम धरती के पुत्र
करें मा का सरक्षण,
अत केन्द्रित,
जीवन ईश्वर के सम्मुख नत ।

सौ

आज प्राविधिक कौशल के
वैज्ञानिक युग में
निधनता ही नही
सपदा की काष्टा भी
बना रही जीवन को
क्षुब्ध, अशात, असयत !

हिप्पी बनते युवक,
अनैतिक—प्रौढ स्वाथ रत,
बहु वभव सपन्न राष्ट्र
करते प्रयाग अब
अपनियमो पर—
सामूहिक सभोग क्रम पर !

वस्तु जगत के बोध से दबी
आदालित अब मानव आत्मा
युवका की पीढी विद्रोही
निखिल विश्व मे !

सत्य मात्र विद्रोह
मात्र विद्राह के लिए !
कला आज विद्रोह कर रही

शिल्प जगत् विद्रोह कर रहा
गीति, काव्य, साहित्य समीक्षा
विद्रोही गत संस्कृति के प्रति।

क्या कहते वे ?
यही, हमें संतोष नहीं
जो कुछ है उससे।—
यांत्रिकता से मर्दित
क्रूर व्यवस्था
चबा रही मानव को।
असंतोष मथता अविराम
हृदय को जन के।

व्यक्ति समाज
पृथक् धाराओं में अब बहते,
संकट घोर मनुष्य चेतना में छाया है
निखिल विश्व में।

क्या उपाय हो इसका ?
वस्तु जगत का पूजन
छोड़ मनुज,
अपने अंतर में
केंद्र सत्य को खोजे।—
रस, आनंद, प्रेम का।—
मनुज सत्य जो।

कृत्रिम जग में रहना छोड़—
बाह्य नर मन ने

जिसका प्रसरित किया—
प्रकृति के
ईश्वर के जग मे रहना सीखे
भविष्य मे ।

यही दृष्टि भारत की रही
जगत् जीवन प्रति ।
भोगे नर भू जीवन
अत केन्द्रित रहकर ।

भाव बोध
भगवत् सकेता से चलित हो ।
अर्पित हो तन मन
समग्र के प्रति
भूमा प्रति ।

अत स्थित ही
कर सकता
उपभोग
विश्व का ।

एक सौ एक

जय बांगला! बीसवीं सदी में
तुमने जो भोगा झेला
दूसरा निदर्शन
उसका भू इतिहास में नहीं!

संभव, बर्बर युग में पहिले
जब असभ्य था मनुज
प्रखर नख द्रष्टा हिंसक
मारे काट हों लाखों जन
तब नर पशु ने
रक्त चूसकर उनका जी भर!

राग द्वेष वश, लोभ क्रोध वश
खाल उधड़ी हो निरीह की —
अंध काम वश
बलात्कार कर टूटा हो वह
पीन स्तनी
नग्न जघना वाली कन्या पर—
रति की भूखी!

चंचल मृग नयनी
स्वाभाविक अंग भंगि से

कामोन्मत्त बना देती है
तब वनचर को।

सामूहिक संहार,
आसुरी अत्याचार
नहीं संभवतः तब ऐसा हो हुआ,
क्रूर चिंगेज, असुर हिटलर का स्मरण
दिलाता जो अब।
बाङ्ला जन ने जिसे
खून की तिक्त घूँट
आँसू पी पी कर सहा
विवश हो।
दारुण बलि वेदी पर
सौ सौ शीश चढ़ाकर
अत्याचारी के सम्मुख।

रुंड मुंड, नर अस्थि पंजरों से
बाङ्ला भू
अभी पटी है।
गीताएँ, राधाएँ
मुग्धाएँ, श्यामाएँ
गर्भवती हैं,
लोक लाज में लिपटी गर्हित
अनचाहे बच्चों की माँ बन।—
पद प्रहार से लुंठित
कामुक सैनिक जन के,
भोग जिन्होंने उन्हें

काट डाले कोमल स्तन,
बच्चों को ऊपर उछाल कर
बेध प्रखर संगीन नोक से।

मनुज रक्त से रक्तिम पद्मा
गर्जन भरती
शत शत फेनिल फन खोले
क्रोधित लहरों के।
सद्य शोणित धारा
शस्यश्यामला भू पर
पावक की लपटों सी
लिपटी लगती भीषण।
ज्वालामुखी फटा हो जैसे
अंध क्रोध का।

शांत पाप! शांत ताप!
मुक्त हुए तुम
मुक्ति वाहिनी के
भारत के रण कौशल से,
साहस, शौर्य, पराक्रम, बल से।

सफल हों सब
दृढ़ वज्र संकल्प
तुम्हारे वीर जनों के।
दिया आत्म बलिदान जिन्होंने
कष्ट झेल कर
दारुण भीषण नरक द्वार का।

सामूहिक सक्ल्प अजेय।
झुकेगा उसके सम्मुख निश्चय
क्रूर आततायी सदव—
यदि सत्य निष्ठ हो।
वह वाङ्ला भू,
वियतनाम हो।
सामूहिक सक्ल्प
लौह प्राचीर वना—
जिसने कि निहत्थे
वाल वृद्ध तरुणो को
प्रेरित किया—
अस्त्र शस्त्रो से सज्जित
आसुर अरि को
ध्वस्त पराजित करने—
उसका मान भग कर।

एक लक्ष अरि-योद्धाओ ने
आत्म समपण किया
नवा निज मस्तक
जनता काली के सम्मुख,
शरणागत वनकर जन का।
और खून की घूट स्वय पी
तुमने उनको
अभय दान देकर
निरस्त्र कर दिया उसी क्षण।

भारत न सहृदय प्रवुद्ध
प्रतिवेशी की भूमिका निवाही
साथ सत्य का दे जन मन के।

पृष्ठ भूमि भर यह
है सीता की बाङ्ला भू !
समारभ भर
मानवता के नय युद्ध का !
जगी जन मानवता
तुम निमाण कराग
साक्षी होगी वही
तुम्हारी दूर दृष्टि की !

कडमस ने भू पर बोए थे
दात सप के,
सेना क्रूर उगाई उनसे !
रुड मुड बोए जन ने
निज बाङ्ला भू पर !—
उनसे सहृदय मनुज उगाओ !
भूलो बीती को,—
यह घोर विवतन का युग !

गूजे फिर मछुओ के स्वर
नदियो नावो पर,
फूटे खेतो म
शस्य श्यामल तरुणाई !

किलकारी मारे नव जीवन
भू प्रागण मे,
फूसो की कुटियो के भीतर
पोपित, रक्षित !

और, आधुनिक यन्त्रो के
स्पदन कपन से
बढे नये उद्योग—
देश सम्पन्न बने फिर!

महाक्राति आ रही गरजती,
जन धरणी के
पाप ताप सतापो का
करने विनाश सब!

पुन महाभारत मे जन
बँट दो शिविरो मे
लोक सत्य के, लोक न्याय के
युद्ध के लिए
खडे हुए कटिबद्ध!

महा सक्राति काल यह,
एक हाथ मे अमृत
दूसरे मे दिग् दाहक
अणु बम लिए हुए जो!

हम हैं अमृत कलशधर युग के,
अत शाति से, साहस से,
धीरज, विवेक से
जन भू रचना
नव मानवता की रचना मे
कम निरत हम रहे!
अमृत छिडकें अणुबम से
आहत मनुष्यता के उर मे!—

भस्मासुर अपने ही सिर पर
स्वय हाथ रख
भस्मीभूत मरेगा—
यह नव युग का निर्णय,
यही मनुज की भावी।
शुभ के साथ रहे हम,
आसुर शक्ति स्वय ही
आत्म विभक्त
विलीन धरा म हो जाएगी।
यही नियति उसकी निर्धारित।

स्वतत्रता है
पराधीनता सब से बढकर।
क्योंकि परस्पर निर्भर रहना होता
जन को लोकतत्र मे।
उसका नव निर्माण
जनो को करना होता,
सदा सत्य के रह अधीन
बढ लक्ष्य ओर नित।

भारत है मा वसुधा।
भारत अमृत कुभ ले
पुन जिलाएगा
अणु मृत भू मानवता को,—
विश्व सभ्यता को,
सस्कृति को।

सत्यवान की प्रेमी है
उसकी सावित्री।

उसकी प्रतिभा
अतजग की वैज्ञानिक !
निर्माण कर रही
मनुष्यत्व नव
स्थूल सूक्ष्म का सयोजन कर !
तम प्रकाश का
स्वग धरा का नव परिणय कर !

निवल के वल राम भले हो,—
निवल का ससार नही है !
सत्य, वीर भोग्या वसुधरा !
भारत का नभ गजन भरे
तुमुल ध्वनि वज्रास्त्रो से मडित !

सिधु दहाडे
सिंह वाहिनी का वाहन बन !
स्थल सेना के चापो से
कपित हो भू के पाप ताप !

भारत भौगोलिक
रक्षा करने मे समथ हो
शोषित पीडित की,—
जन अरि का मद मदन कर,
विगत ज्वर रह !

तुम सोनार बाड्ला,
दायित्व तुम्हारे सिर पर !
मानवता निर्माण करो नव

युग पुकार सुन !
मानवता निर्माण करो
श्रम तप रत भू पर,
मानवता—
कर्त्तव्य निष्ठ,
सहृदय, प्रबुद्ध जो—
कवि रवीन्द्र के स्वप्न रूप ले !
मानवता निर्माण करो
जो जाति धर्म के गत भेदों को
अतिक्रम कर
नव मानवीय सामाजिकता में
समायोजित हो,—
धरा स्वर्ग रचना रत
मनुज प्रीति में डूबी !

शिथिल विश्व तब निर्मित हो